दैनिक जागरण

Date: 01-10-16

# पाक को अनावश्यक जल बंद हो

सिंधु नदी पर 1996 में जब हमने सिंधु दर्शन अभियान और उत्सव की योजना बनायी थी, तो पाकिस्तान को नाजायज रूप से जा रहे 80 प्रतिशत जल के भारत में उपयोग का एक महत्वपूर्ण मुद्दा जुड़ा था. बाद में जम्मू-कश्मीर विधानसभा ने भी भारत सरकार से सर्वसम्मत अनुरोध किया था कि सिंधु जल संधि का पुनरीक्षण किया जाये, ताकि जम्मू-कश्मीर के किसानों को आवश्यक मात्रा में जल मिल सके. अब समय आ गया है कि सिंधु जल के सिंधु पुत्रों के हित उपयोग पर ध्यान दिया जाये. भारत दुनिया में अकेला ऐसा देश है, जिसका नाम एक नदी यानी सिंधु नदी पर पड़ा है. हमें इंडिया या हिंदुस्तान नाम सिंधु ( जिसे ग्रीक लोगों ने इंडस कहा) नदी के ही नाम पर मिला है. सिंधु के उस पार रहनेवाले हिंदू (इंडियन) कहलाये और सिंधु पार क्षेत्र का नाम हुआ इंडिया या हिंदुस्तान. उस सिंधु का उद्गम तिब्बत में है.

एशिया में 57 ऐसी नदिया हैं, जो दो या अधिक देशों से गुजरती हैं. केवल अकेला भारत है, जिसने अंतरराष्ट्रीय सीमा के पार जानेवाली नदियों के जल बंटवारे पर पड़ोसी देश के साथ समझौता या करार किया है. चीन की सीमा से सटे बारह देश हैं, जिनमें चीन की नदियां जाती हैं.लेकिन, चीन ने किसी एक देश के साथ भी- जिनमें भारत भी शामिल है, जहां ब्रह्मपुत्र तिब्बत से आती है- कोई नदी जल बंटवारा करार नहीं किया है.

यदि भारत जम्मू-कश्मीर राज्य की पानी आवश्यकताओं के लिए सिंधु जल का उपयोग करे, तो यह पाकिस्तान को सूखा कर देगा. जम्मू-कश्मीर राज्य विधानसभा ने 2003 में प्रस्ताव पारित कर पाकिस्तान को बेवजह, अनावश्यक मात्रा में जा रहे जल को रोक कर राज्य की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए सिंधु जल संधि की पुनः समीक्षा की मांग की थी. 2003 से 2016 आ गया, लेकिन केंद्र ने अपने ही राज्य की मांग अनसुनी कर पाकिस्तान को अनावश्यक जल की आपूर्ति जारी रखी है.

पाकिस्तान से संबंध अच्छे हों, इसके लिए सामान्य अपेक्षाओं का दायरा असामान्य रूप से बढ़ाते हुए नरेंद्र मोदी ने इतने प्रयास किये कि घोर विपक्षी भी हैरान रह गये. लेकिन, पाकिस्तान ने नरेंद्र मोदी के सज्जन व्यवहार का उत्तर पठान कोट और उड़ी हमलों से देकर बताया कि वह सुधरने की कोई मंशा नहीं रखता. कभी भी पाकिस्तान में आमने-सामने के युद्ध में जीतने की क्षमता नहीं रही. उसकी सेना विलासी और युद्ध से डरती है. 1947 के बाद पाकिस्तानी सेना ने खुल कर कोई युद्ध नहीं लड़ा. 1947-48 में उसने कबायलियों को आगे किया, 1965 में रेंजर्स का सहारा लिया, 1971 में उसकी सेना की दरिंदगी का सामान्य जनता शिकार बनी और अंततः बड़ी संख्या में उन्हें हमारे सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा.अमेरिकी डॉलरों की खैरातों और अफसरों की सामंती मानसिकता ने पाकिस्तानी सेना में सिर्फ नियमहीन जंगलियों की भीड़ इकठ्ठा की है और वह सीधे युद्ध के बजाय आतंकवादियों के कंधों से भारत पर छुप-छुप कर वार करना ज्यादा सुरक्षित मानती है. पाकिस्तान द्वारा परमाणु हमले की धमकियां बेहद बचकाना तथा अपनी पराजय स्वीकार करने जैसा है.भारत ने स्पष्ट किया है कि वह इसलामाबाद की परमाणु धमकियों के आगे झुकनेवाला नहीं है, और उसकी परवाह किये बिना पाकिस्तान के विरुद्ध दंडात्मक कार्यवाही करेगा. किसी भी पाकिस्तानी चाल का उत्तर देने के लिए हमारी शक्ति और सामर्थ्य पाकिस्तान से कई गुना अधिक है.

इस समय विश्वभर में पाकिस्तान अकेला पड़ रहा है. रुस, चीन, अमेरिका, फ्रांस जैसे देश पहली बार पाकिस्तान के विरुद्ध एक स्वर में खड़े दिखे हैं. चीन यद्यपि पाकिस्तान को समर्थन और उसके परमाणु कार्यक्रम को मदद देनेवाला है, फिर भी आतंकवाद के विरुद्ध वैश्विक स्वरों से चीन स्वयं को अलग नहीं रख पाया.रुस ने तो हमेशा की तरह भारत का साथ देकर अपनी बरसों पुरानी दोस्ती की परंपरा को कायम रखा है. भारत को इस माहौल का लाभ उठा कर एक ओर पाकिस्तान को विश्व समुदाय में अलग-थलग करने, शर्मिंदा करने व कलंकित करने का अभियान चलाना होगा, तो दूसरी ओर उसके विरुद्ध आर्थिक नाकेबंदी भी लागू करनी होगी.

---

**Date: 01-10-16**

# सुप्रीम कोर्ट का आपराधिक राजनीति को कड़ा संदेश

सुप्रीम कोर्ट ने राष्ट्रीय जनता दल के नेता सैयद शहाबुद्दीन की जमानत रद्द करके राजनीति के अपराधीकरण पर लगाम लगाने की कोशिश की है। न्यायालय से यह उम्मीद तभी पैदा हो गई थी जब उसने राजद और जद (यू) की साझा सरकार को इस बात के लिए आड़े हाथों लिया था कि उसने शहाबुद्दीन की जमानत याचिका का अदालतों में गंभीरता से विरोध नहीं किया और उसी के चलते उन्हें पटना हाईकोर्ट से जमानत मिल गई। सुप्रीम कोर्ट ने नीतीश सरकार की इस बात के लिए भी खिंचाई की थी कि उसने राजीव रोशन हत्याकांड में अभियुक्त को 17 महीने तक चार्जशीट ही नहीं दी।

हालांकि, जमानत के लिए राज्य सरकार की तरफ से इतनी सहूलियत मिलने के बावजूद शहाबुद्दीन जेल से छूटते ही मुख्यमंत्री पर बरस पड़े और लालू प्रसाद के नेतृत्व में आस्था जताते हुए दरबार लगाना शुरू कर सीवान में नए सिरे से आतंक कायम करने का प्रयास किया। वे भूल गए कि बिहार में भले सत्ता पलटी है, लेकिन अब देश नब्बे के उस दशक से बाहर आ चुका है जब सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता का नारा लगाते हुए कुछ नेता हर तरह के अपराध करने को स्वतंत्र थे। भले नीतीश कुमार ने ही उन स्थितियों को काबू किया था, लेकिन तब उनके साथ वे शक्तियां थीं जो राजनीति में अपराधियों के प्रवेश का आंख मूंदकर समर्थन नहीं करती थीं। नीतीश कुमार की पहली सरकार ने ही बिहार में पुलिस को सक्रिय करके बड़े पैमाने पर अपराधियों को सजाएं दिलवाईं और शहाबुद्दीन समेत उन नेताओं पर हाथ डाले जो कानून के लिए चुनौती बन गए थे। आज पाला बदलने के साथ अगर नीतीश कुमार अपराधियों की अनदेखी करने को मजबूर हैं तो इसके लिए एक हद तक वह जनादेश भी जिम्मेदार है, जो बिहार की जनता ने दिया है।अपराधियों पर कार्रवाई और कानून का राज कायम करने में अगर राजनीति अड़चन पैदा करती है तो मानना होगा कि पुलिस और न्यायिक प्रशासन पर राजनीतिक दबाव काम करता है। न्यायिक प्रशासन में तो हाईकोर्ट से जमानत मिलने के बाद सुप्रीम कोर्ट से उसके खारिज होने की उम्मीद की जा सकती है जैसा कि मौजूदा मामले में हुआ, लेकिन पुलिस प्रशासन का मामला उससे अलग है। उसके लिए सुप्रीम कोर्ट की तरफ से निर्देशित पुलिस सुधार को लागू ही करना होगा, जिसमें पुलिस को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रखने की व्यवस्था की गई है। यह काम कोई आकाश कुसुम नहीं बल्कि आज के दौर की अनिवार्य आवश्यकता है।

---

THE ECONOMIC TIMES

Date: 01-10-16

# Remove Article 47 of the constitution

It is a welcome development that the Patna High Court has struck down the Bihar government's draconian policy of total prohibition, extending to putting behind bars members of a household on whose premises liquor is found. One hooch tragedy has already taken place and claimed 16 lives. There have also been worrying reports of a rise in drug use in the state. Prohibition has led to a rise in crime, wherever it has been implemented, besides erosion in respect for the law. It is welcome that a misguided political calculation of winning women's support had led chief minister Nitish Kumar to propose and implement prohibition in the state.

However, the court struck down Nitish Kumar's policy on grounds that relate to unsoundness of the legal means and lack of consistency of the policy with official grant of licences for manufacture and sale of Indian-made foreign liquor in the state. While one judge held that prohibition violated the fundamental right of liberty and the derived right to privacy guaranteed by the Constitution, the other judge on the bench dissented, opining that since one of the Directive Principles of State Policy commends prohibition, it cannot be deemed to violate a fundamental right.

Merely because the founding fathers thought it fit to include two conflicting principles in the Constitution, it does not mean that the conflict ceases to be. Article 47 says that the State shall endeavour to bring about prohibition of intoxicating drinks and drugs that are injurious to health. To ensure food safety, the government has set up a food regulator. Similarly for drugs. Drugs are beneficial or injurious depending on quantity and frequency. So is the case with food.Article 47 is, thus, unscientific and irrational, apart from being illiberal and violative of the fundamental right to liberty. Contemporary India's basic law should not contain such an illiberal provision. Whatever the compulsions that led the founding fathers to insert Prohibition in the Constitution, the time has come to rid it of Article 47, and of other such illiberal provisions.

---

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 01-10-16

# बैंकों की ऋण समस्या

कुछ हैरान करने वाले आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 2016 की पहली छमाही में देश के सरकारी बैंको के ऋण में महज 1.4 फीसदी की दर से बढ़ोतरी हुई। इसी अवधि में भारतीय स्टेट बैंक समूह की ऋण वृद्घि 9.6 फीसदी के कमजोर लेकिन सम्मानजनक स्तर पर रही। वहीं दूसरी ओर इस दौरान निजी क्षेत्र के बैंकों की ऋण वृद्धि का आंकड़ा 25.9 फीसदी के

स्तर पर रहा। ये रुझान दर्शाते हैं कि बैंकिंग उद्योग के अलग-अलग वर्गों के वृद्धि के आंकड़ों में काफी विभिन्नताएं हैं। सरकारी बैंकों की ऋण वृद्धि 2014 की पहली छमाही के करीब 13 फीसदी के स्तर के बाद से उत्तरोत्तर कम हुई है। जबकि निजी क्षेत्र के बैंकों की ऋण वृद्धि दर दो साल पहले के 15 फीसदी के स्तर से लगातार बढ़ी है।

तो राष्ट्रीयकृत बैंकों में क्या हो रहा है और उन्होंने ऋण देना क्यों बंद कर दिया? क्या उनकी आंतरिक प्रक्रिया ठप है क्योंकि कर्ज के फंसे हुए कर्ज में बदल जाने और इसके लिए निजी तौर पर निशाना बनाए जाने के डर से कोई निर्णय ही नहीं ले रहा है? या फिर ग्राहकों की कमी के चलते उनको ऋण प्रस्ताव ही नहीं मिल रहे? इन समस्याग्रस्त बैंकों के प्रबंधन का कहना है कि बाद वाली वजह सही है। यदि उनको ऋण प्रस्ताव मिलें तो वे ऋण देंगे। यह सच्चाई का अच्छा हिस्सा हो सकता है लेकिन इसे पूरा सच मानना कठिन है। कम से कम पिछले कुछ वर्षों में फंसे हुए कर्ज के पुनर्गठन को देखते हुए तो यही कहा जा सकता है।

जमा वृद्धि की दरों में भी अंतर है। राष्ट्रीयकृत बैंकों में जमा की वृद्धि दर घटकर चार फीसदी से भी कम रह गई है। जबकि निजी बैंकों में यह 20 फीसदी से अधिक है। बैंक ग्राहक (जमाकर्ता और ऋण लेने वाले) निजी बैंकों का रुख कर रहे हैं। यह रुझान नागर विमानन और दूरसंचार क्षेत्र में पहले से मौजूद है। एक बार निजी क्षेत्र की ओर से गंभीर प्रतिस्पर्धा मिलने पर यही होता है। उन क्षेत्रों के उलट बैंकिंग में सरकार की अहम हिस्सेदारी है लेकिन कहा जा सकता है कि यहां भी निजी से सार्वजनिक की ओर बदलाव की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी है।एक बदलाव इसके समांतर भी है: हाल के दिनों में ऋण में जो वृद्धि हुई है वह उपभोक्ताओं द्वारा लिया गया खुदरा ऋण है जो उन्होंने कार आदि खरीदने के लिए लिया है। कारोबारी ऋण लगातार कमजोर हुआ है। अगस्त के आंकड़े बताते हैं कि औद्योगिक ऋण में पिछले साल की समान अवधि की तुलना में 0.2 फीसदी की कमी आई है जबकि कृषि ऋण 13 फीसदी और व्यक्तिगत ऋण 18 फीसदी की दर से बढ़ा है। कहा जा सकता है कि निजी क्षेत्रों के अधिकांश ऋण में व्यक्तिगत ऋण की बड़ी हिस्सेदारी है।

ये रुझान अप्रैल-जून तिमाही के जीडीपी आंकड़ों से भी तारतम्यता में हैं। उन आंकड़ों के मुताबिक स्थायी पूंजी में निवेश की हिस्सेदारी तेजी से घटकर 28.3 फीसदी रह गई है जबकि पहले यह 31 फीसदी से अधिक थी। वर्ष 2004-05 में तेज आर्थिक वृद्धि का सिलसिला शुरू होने के बाद से यह निवेश का न्यूनतम स्तर है। इसका एक स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि ऐसा इसलिए हुआ होगा क्योंकि औद्योगिक क्षमता निर्माण की प्रक्रिया धीमी मांग वृद्धि से आगे रही और एक बार इस स्थिति में सुधार के बाद निवेश दोबारा गति पकड़ेगा। लेकिन यह भी पूरा सच नहीं कहा जा सकता। सच यह है कि बुनियादी ढांचे को ऋण देने से जुड़ी जटिल समस्याओं (पीपीपी मॉडल की विफलता के चलते) को आंशिक तौर पर ही हल किया जा सका है। रिजर्व बैंक कहता है कि बुनियादी क्षेत्र (कपड़ा, सीमेंट और खाद्य प्रसंस्करण) में ऋण में कमी आई है। जीडीपी के आंकड़े भी बताते हैं कि विनिर्माण गतिविधि कमजोर हुई है। ऐसा लगता है कि बुनियादी निवेश में सुधार के नए तरीके तलाशने होंगे। इसे मोटे तौर पर जीडीपी के छह फीसदी के करीब गिना जाता है लेकिन जिसमें गिरावट आ सकती है क्योंकि ऋण दे रहे बैंकों में जोखिम भरी गतिविधि को लेकर स्पष्ट समझ नहीं है।

**टी. एन. नाइनन**

**Date: 01-10-16**

# नए इतिहास के निर्माण का साक्षी बन रहा दौर

अमेरिका में 9/11 की घटना के बाद तत्कालीन बुश प्रशासन के सहायक रक्षा मंत्री रिचर्ड आर्मिटेज ने पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी आईएसआई के प्रमुख को तलब किया था और कहा कि वह तालिबान का साथ छोड़कर अमेरिकी सहयोगी बन जाए या फिर परिणाम भुगते। पाकिस्तानी जनरल ने कहना शुरू किया कि अफगानिस्तान में उनके देश और उनकी एजेंसी का एक इतिहास है और वहां से उनके अहम हित जुड़े हुए हैं। कहा जाता है कि आर्मिटेज ने इसके जवाब में घोषणा की थी, 'इतिहास, अभी इसी वक्त, यहां शुरू होता है।' कई बार घटनाएं, नेता, विचारक आदि इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं और जब उनको यकीन होता है कि उनके पास ऐसा करने की ताकत है तो वे ऐसी ही घोषणा करते हैं। नरेंद्र मोदी ने भी कार्रवाई की घोषणा के साथ यही किया है। यह कार्रवाई कश्मीर में नियंत्रण रेखा के समांतर की गई। 28 और 29 सितंबर की दरमियानी रात को ठीकठीक क्या हुआ, भारतीय कमांडो कितने अंदर गए, जानमाल के नुकसान के मामले में उनको कितनी सफलता मिली, या फिर अगर पाकिस्तान के प्रश्नों को तरजीह दी जाए तो क्या वे सीमा पार गए भी या केवल अपने इलाके से गोलीबारी कर दो पाकिस्तानी जवानों को मार दिया, ये सभी मामूली और तकनीकी प्रश्न हैं। अहम सामरिक मुद्दा यह है कि भारत ने इस कार्रवाई की सार्वजनिक घोषणा की है। यह बात भारत और पाकिस्तान के रिश्तों को अब नए सिरे से परिभाषित करेगी। इससे इस बात का मजबूत संकेत भी मिलता है कि भारत की ओर से अब पहले जैसी प्रतिक्रिया नहीं रहेगी। कहा जा सकता है कि मोदी कह रहे हैं: इतिहास अब शुरू होता है।

सन 1989 में कश्मीर घाटी में दिक्कतों की वापसी के बाद आतंक ने मुख्य भारत में पहली दस्तक सन 1993 में मुंबई में हुए सिलसिलेवार धमाकों के रूप में दी थी। उसके बाद से भारत की प्रतिक्रिया को लेकर कई तरह की बातें सामने आईं। इनमें से कुछ तो सन 1972 के शिमला समझौते की भावना के अनुरूप कही जाने वाली पुरानी बातें थीं जिनमें कहा गया कि द्विपक्षीय कश्मीर समस्या का अंतरराष्ट्रीयकरण करने की पाकिस्तान की किसी भी कोशिश का पुरजोर विरोध होगा। दूसरा सिद्घांत इससे संबंधित था जिसमें कहा जाता कि शिमला समझौते के तहत बनी नियंत्रण रेखा को स्वत: सीमा का दर्जा प्राप्त है और वहीं से कश्मीर का बंटवारा होता है। कहा जाता कि किसी उपयुक्त समय दोनों देश उसे मान्यता देंगे। सन 1989 तक दोनों देशों ने इसका सम्मान भी किया। हकीकत में सन 1984 की ठंड में सियाचिन ग्लेशियर पर भारत की पहल को यह कहकर उचित ठहराया गया कि यह उस क्षेत्र में भारत की अपनी मौजूदगी जताने की कवायद है जो एलओसी में चिह्नित नहीं है। इसकी व्याख्या को नियंत्रण रेखा के समांतर तथाकथित 'प्वाइंट एनजे9842 से आगे ग्लेशियर के साथ-साथ' के रूप में पेश किया गया। पाकिस्तान ने इसका प्रतिवाद किया और कई हमले किए लेकिन इसकी उसे खुद बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। करगिल युद्घ में भारत की प्रतिक्रिया भी इसी सिद्घांत पर आधारित थी कि नियंत्रण रेखा स्वत: सिद्घ सीमा है। इसके परिणाम पूरे विश्व में नियंत्रण रेखा को मान्यता मिली और इसे भारत के लिए सामरिक बढ़त माना गया।

यही वजह है कि कई मौकों पर भारतीय सेना ने सामरिक वजहों से नियंत्रण रेखा पार करके कार्रवाई की लेकिन इसे सार्वजनिक रूप से स्वीकार नहीं किया गया। सेवानिवृत्त सेना प्रमुख जनरल विक्रम सिंह ने एक प्रश्न के उत्तर में स्वीकार किया कि सेना ने जनवरी 2013 में दो भारतीय जवानों के सर काटे जाने का बदला लिया था, लेकिन उन्होंने इसका कोई ब्योरा नहीं दिया। करगिल के तत्काल बाद जब चार मिराज 2000 विमानों की मदद से एक पाकिस्तानी ठिकाने को ध्वस्त किया था तब भी कुछ नहीं कहा गया था। मिराज विमानों ने गोपनीयता बचाते हुए उस मिशन को शिवालिक

पहाड़ियों में काफी भीतर अंजाम दिया था। अहम बात यह है कि पाकिस्तान भी इन मौकों पर खामोश रहा। शायद उसने सोचा होगा कि उचित वक्त पर जवाब देगा। वह इतिहास अब समाप्त हो चुका है। पाकिस्तान से नियंत्रण रेखा का सम्मान करने को कहने के बजाय भारत ने अब खुद इस पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। पाकिस्तान पर कश्मीर मुद्दे का अंतरराष्ट्रीयकरण करने की शिकायत करने के बजाय भारत अब खुद ऐसा कर रहा है। उसने पाकिस्तान पर आतंक फैलाने और परमाणु हथियारों के जरिये ब्लैकमेल करने की तोहमत थोपी है। राजग सरकार ने भले ही इस काम के लिए एक कनिष्ठ मंत्री को तैनात किया लेकिन राज्यवर्धन सिंह राठौर ने कहा है कि कश्मीर हमारा हिस्सा है तो उसके किसी भाग में जाना उल्लंघन कैसे हुआ। यह बात अहम है? खासतौर पर यह देखते हुए कि हाल ही में प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर, गिलगित और बाल्टिस्तान का उल्लेख किया। अब तक इस बात पर सहमति थी कि कश्मीर समस्या का अंतिम हल नियंत्रण रेखा को अंतरराष्ट्रीय सीमा मानने के रूप में निकलेगा। शिमला समझौते की भावना भी वही थी और जैसा कि खुर्शीद कसूरी ने लिखा है वाजपेयी, नवाज शरीफ, मुशर्रफ, मनमोहन सिंह के दौर में हुई बातचीत में भी। वर्ष 2001-03 में हुए ऑपरेशन पराक्रम को प्रतिरोधी कूटनीति कहा गया। वह उसी नीति का हिस्सा था। अब वह सिलसिला खत्म हो चुका है। अगर पाकिस्तान ने 1989 की अशांति का लाभ लेकर शिमला समझौते की अवहेलना की, अब भारत ने ठीक वही किया है। नरेंद्र मोदी की विश्वदृष्टि में पाकिस्तान शिमला समझौते तक सीमित है और अब लड़ाई ज्यादा हासिल करने की है। अपने राजनीतिक, सामरिक और कूटनयिक कदम से उन्होंने पाकिस्तान की उस सहजता को क्षति पहुंचाई है। पाकिस्तान से शिमला समझौते का सम्मान करने की मांग करने के बजाय नरेंद्र मोदी इस पुरानी दलील को एकदम पलटने जा रहे हैं। अगर शिमला समझौते के चार दशक बाद पाकिस्तान कश्मीर को विभाजन का बचा हुआ काम बता सकता है तो भारत इसे शिमला का अधूरा काम क्यों नहीं कह सकता? सुनने में क्रूर लग रहा है लेकिन देश की पहली विशुद्घ दक्षिणपंथी सरकार की यही सोच है। वह यथास्थिति बरकरार नहीं रखना चाहती बल्कि उसे इसे भंग करने में ही देश का लाभ दिख रहा है।

इस बात को ध्यान में रखकर एक नई नीति निर्मित की जा रही है। मोदी सरकार परमाणु सीमा के दायरे से परे कोई चढ़ाई न करने के विचार को पुनर्परिभाषित कर रही है। उसका मानना है कि नाभिकीय हथियारों का भय एकतरफा प्रतिरोध बन चुका है। या फिर वह एक ऐसी छतरी बन चुका है जिसके नीचे पाकिस्तान भारत को नुकसान पहुंचाने वाली गतिविधियों को अंजाम दे रहा है। भारत को पाकिस्तान के बगल में रहना है और वह हमेशा ब्लैकमेल नहीं हो सकता। इन आधारभूत बदलावों का एक परिणाम सामरिक प्रतिरोध के सिद्घांत को भी हर्ज होगा। लेकिन अब वह सीमा इतनी बढ़ गई है कि भारत के पास प्रतिरोधक कदम उठाने की गुंजाइश बढ़ी है। फिलवक्त जब नजरिये को विचार के रूप में देखा जा रहा है और 10 सेकंड की कोई साउंड बाइट या 140 अक्षरों का ट्वीट विश्लेषण माना जा रहा है, कुछ भी जटिल या परतदार बात लिखने के अपने जोखिम हैं। 18 सितंबर को उड़ी हमले की खबर सामने आने के तत्काल बाद मैंने कहा था कि पाकिस्तान अगर यह सोच रहा है कि भारत इसे भी यूंही भुला देगा तो वह गलती कर रहा है क्योंकि अब हम पुराने सामरिक प्रतिरोध के वक्त से आगे निकल आए हैं। इस क्षणिक ध्यानाकर्षण वाले समय में जमीनी हकीकत के विश्लेषण और आदेशात्मक राय में भेद कर पाना मुश्किल है। ये एक दूसरे से उलट हो सकते हैं।

तमाम विश्लेषण नई हकीकत पर आधारित होने चाहिए। यह सही है या गलत इसके आकलन का वक्त दूसरा होगा। पहली बात, हमें यह मानना होगा कि यह एक नई दक्षिणपंथी सरकार है जिसने पुराने रुख को त्याग दिया है। वह नियंत्रण रेखा की पवित्रता, सामरिक प्रतिरोध, प्रतिरोधात्मक कूटनीति आदि पर निर्भर नहीं है। उसने परमाणु हथियारों की आशंका को भी परे किया है। जो अब खो चुका उसका शोक मनाने अफसोस का कोई अर्थ नहीं है चाहे वह कितना भी

दुखद क्यों न हो। भारतीय विश्लेषकों और और पाकिस्तानी नीति निर्माताओं के लिए यह बात अहम है। वे एक नए इतिहास से रूबरू हैं।

---

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 30-09-16

# A low priority called health

## *Poor Indians are forced to look towards the private sector for healthcare. Bhutan and Ethiopia spend more than India does.*

Ratna Devi and her nine-year-old daughter Seema (names changed) came to AIIMS, New Delhi. There was a large tumour on Seema's knee. It had been thriving on the little girl for a year. The family was from Rajasthan, around 400 km from Delhi. The father was a farmer who owned a small piece of land, barely enough to sustain a family of six.The tumour was treated initially at a private hospital in Jaipur, which prolonged the treatment, bleeding the family white. After it was found that the tumour was inoperable, Seema was sent to AIIMS with a small piece of paper that noted, "referred to a higher centre".

The initial treatment of the tumour cost the family Rs 20,000 that was borrowed from the village moneylender at exorbitant interest. This now threatened the family's only piece of sustenance — the small patch of land. Seema's treatment in Delhi necessitated that the land be sold off.The girl's limb was amputated at AIIMS and she was advised chemotherapy. But the family was not able to sustain living in Delhi, so Seema could not go through the complete process of chemotherapy. Without chemotherapy, I am sure, Seema would not have made it beyond one season. The hospital records showed that Seema was lost to follow-up. For me, she was murdered.

Seema's story is not a one-off in this country. An article published in The Lancet on June 26 reveals the tragedy of India's healthcare system in more objective terms. It evaluates the role of private players in the healthcare system of countries. The article brackets India with Nigeria in the group of nations with a "dominant private sector". At the time of our "tryst with destiny," we were made to believe that India was committing itself to socialist principles of governance. What went wrong that private players are predominant in the country's healthcare sector? Or was it that healthcare was purposefully left "unattended" so that private enterprise could run amok? Or perhaps, healthcare as a vital investment was — and is — beyond the imagination of the country's rulers?

The Lancet article slots Sri Lanka (along with Thailand) in a group where the "private sector compliments the universalist public sector". The private sector's share in healthcare in India is an astonishing 78 per cent in urban areas and 71 per cent in rural areas; in Sri Lanka the share of the two sectors is nearly equal. What is more chilling is that public-funded healthcare insurance schemes in India, like the Rashtriya Swasth Beema Yojana, give more than 80 per cent of their reimbursements to the private sector. Simply put, money from public coffers is finding its way to private lockers through legitimate systems.

Poverty caused by expenditure on health has doubled in India in the past 15 years. Out-of-pocket health expenditure in India accounted for 6.8 per cent of household resources (and 12.1 per cent of non food expenditure) in 2011-12. It does not need rocket science to understand that health is a vital resource for a nation. Healthy people contribute physically and intellectually to a nation's well-being. Unfortunately, however, health ranks low in the priorities of our rulers. At 1.3 per cent of the GDP, public spending on healthcare in India is lower than some of the poorest countries of the world. Bhutan and Ethiopia spend more on health than we do.

The UN Population Division's World Population Prospects reveals that Bangladesh has a better infant mortality (IMR) rate than India — 31 versus 38 per 1,000 live births. Nepal's IMR is even better — 29 per 1,000 life births – while Sri Lanka's IMR is better than a number of Western countries — eight per 1,000 live births. The fact that even war-ravaged Iraq has an IMR of 27 per 1,000 live births speaks volumes of the shambles in which the Indian healthcare system finds itself.The strengthening of private healthcare at the cost of the public sector has had disastrous consequences. Seema's story is that of every poor Indian family which is forced to look towards the private sector in the absence of a robust public health system. In a country like ours, where caste and economic stratification play vital roles, the public sector should be dominant in healthcare delivery. But private health providers have usurped what was a wonderful healthcare delivery infrastructure, on paper.

Increase in spending on healthcare, formulating relevant health policies (in a country where deaths due to diarrhea are more than deaths due to SARS) and making the healthcare system accountable are some of the urgent necessities. But private health providers are here to stay.Whether we let them thrive at our cost or make them realise that they need to complement and not surrogate the public health care system is a choice we need to make urgently.

**Shah Alam Khan**

**The writer is professor, department of orthopaedics, All India Institute of Medical Sciences. The views expressed are personal**

---

राष्ट्रीय सहारा

**Date: 30-09-16**

# शहरों को खुद संभलना होगा

अब तो बरसात वाले बादल धीरे-धीरे विदा हो रहे हैं, लेकिन सावन-भादो के बीते दो महीने प्रत्येक महानगर की चकाचौंध और विकास की पोल जम कर खोल गए। यह पहली बार नहीं हो रहा है, लगभग हर साल बरसात होती है, या बगैर बरसात के भी साल रह जाता है। शहर के वाहन थम जाते हैं। यह भी सच है कि जिस तरह जाम में फंसे आम लोग केवल अपने वाहन के निकलने का रास्ता बना कर इस समस्या से मुंह मोड़ लेते हैं, उसी तरह शहरों के लोग ऐसी कोई भी दिक्कत आने पर हल्ला करना भी मुनासिब नहीं समझते, मीडिया जरूर सक्रिय रहता है और उसके बाद फिर समाज "नोन-तेल-लकड़ी' में जीवन व्यस्त कर लेता है। शहरीकरण आधुनिकता की हकीकत है और पलायन इसका मूल, लेकिन नियोजित शहरीकरण ही विकास का पैमाना है। गौर करें कि चमकते-दमकते दिल्ली शहर की डेढ़ करोड़ हो रही आबादी में

से कोई चालीस फीसदी झोपड़-झुग्गियों में रहती है, यहां की सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था पूरी तरह जर्जर है। मुंबई या कोलकाता के हालात भी इससे कहीं बेहतर नहीं हैं। आर्थिक उदारीकरण के दौर में जिस तरह खेती-किसानी से लेगों का मोह भ्ांग हुआ और जमीन को बेच कर शहरों में मजदूरी करने का प्रचलन बढ़ा है, उससे गांवों का कस्बा बनना, कस्बों का शहर और शहर का महानगर बनने की प्रक्रिया तेज हुई है। विडंबना है कि हर स्तर पर शहरीकरण की एक ही गति-मति रही, पहले आबादी बढ़ी, फिर खेत में अनाधिकृत कालोनी काट कर या किसी सार्वजनिक पार्क या पहाड़ पर कब्जा कर अधकच्चे, उजड़े से मकान खड़े हुए। कई दशकों तक ना तो नालियां बनीं या सड़क और धीरे-धीरे इलाका "अरबन-स्लम' में बदल गया। लोग रहें कहीं भी लेकिन उनके रोजगार, यातायात, शिक्षा व स्वास्थ का दबाव तो उसी "चार दशक पुराने' नियोजित शहर पर पड़ा, जिस पर अनुमान से दस गुना ज्यादा बोझ हो गया है। परिणाम सामने हैं कि दिल्ली, मुंबई, चैन्नई, कोलकाता जैसे महानगर ही नहीं देश के आधे से ज्यादा शहरी क्षेत्र अब बाढ़ की चपेट में हैं। गौर करने लायक बात यह भी है कि साल में ज्यादा से ज्यादा 25 दिन बरसात के कारण बेहाल हो जाने वाले ये शहरी क्षेत्र पूरे साल में आठ से दस महीने पानी की एक-एक बूंद के लिए तरसते हैं। राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, पटना के एक शोध में सामने आया है कि नदियों के किनारे बसे लगभग सभी शहर अब थोड़ी-सी बरसात में ही दम तोड़ देते हैं। दिक्कत अकेले बाढ़ की ही नहीं है, इन शहरों की दुरमट मिट्टी में पानी सोखने की क्षमता अच्छी नहीं होती है। चूंकि शहरों में अब गलियों में भी सीमेंट पोत कर आरसीसी सड़कें बनाने का चलन बढ़ गया है, और औसतन बीस फीसदी जगह ही कच्ची बची है, सो पानी सोखने की प्रक्रिया नदी-तट के करीब की जमीन में तेजी से होती है। जाहिर है कि ऐसी बस्तियों की उम्र ज्यादा नहीं है, और लगातार कमजोर हो रही जमीन पर खड़े कंक्रीट के जंगल किसी छोटे से भूकंप से भी ढह सकते हैं। याद करें दिल्ली में यमुना किनारे वाली कई कालोनियां के बेसमेंट में अप्रत्याशित पानी आने और ऐसी कुछ इमारतों के गिर जाने की घटनाएं भी हुई हैं।शहरों में बाढ़ का सबसे बड़ा कारण तो यहां के प्राकृतिक नालों पर अवैध कब्जे, भूमिगत सीवरों की ठीक से सफाई ना होना है। लेकिन इससे बड़ा कारण है हर शहर में हर दिन बढ़ते कूड़े के भंडार व उनके निबटान की माकूल व्यवस्था ना होना। अकेले दिल्ली में नौ लाख टन कचरा हर दिन बगैर उठाए या निबटान के सड़कों पर पड़ा रह जाता है। जाहिर है कि बरसात होने पर यही कूड़ा पानी को नाली तक जाने या फिर सीवर के मुंह को बंद करता है। महानगरों में भूमिगत सीवर जल भराव का सबसे बड़ा कारण हैं। जब हम भूमिगत सीवर के लायक संस्कार नहीं सीख पा रहे हैं, तो फिर खुले नालों से अपना काम क्यों नहीं चला पा रहे हैं? पॉलीथिन, घर से निकलने वाले रसायन और नष्ट न होने वाले कचरे की बढ़ती मात्रा, कुछ ऐसे कारण हैं, जोगहरे सीवरों के दुश्मन हैं। यदि शहरों में कूड़ा कम करने और उसके निबटारे के सही उपाय नहीं हुए तो नालों या सीवर की सफाई के दावे या फिर आरोप बेमानी ही रहेंगे। अब यह तय है कि आने वाले दिन शहरों के लिए सहज नहीं हैं, यह भी तय है कि आने वाले दिन शहरीकरण के विस्तार के हैं, तो फिर किया क्या जाए? आम लोग व सरकार कम से कम कचरा फैलाने पर काम करें। पॉलीथिन पर तो पूरी तरह पाबंदी लगे। शहरों में अधिक से अधिक खाली जगह यानि कच्ची जमीन हो, ढेर सारे पेड़ हों। शहरों में जिन स्थानों पर पानी भरता है, वहां उसे भूमिगत करने के प्रयास हों। तीसरा प्राकृतिक जलाशयों, नदियों को उनके मूल स्वरूप में रखने तथा उनके जलग्रहण क्षेत्र को किसी भी किस्म के निर्माण से ेमुक्त रखने के प्रयास हों। पेड़ तो वातावरण की गर्मी को नियंत्रित करने और बरसात के पानी को जमीन पर गिर कर मिट्टी काटने से बचाते ही हैं।

**पंकज चतुर्वेदी हरिंदर बवेजा, वरिष्ठ पत्रकार**

**Date: 30-09-16**

# क्रांतियां होतीं चुपचाप

क्रांतियों हमेशा शोर मचाते हुए नहीं आती। अक्सर वे चुपचाप, बिना किसी शोरगुल के घटित होती हैं। इसी से सांस्कृतिक विकास होता है। राज्य व्यवस्था एकाएक बदल सकती है। रातोंरात तख्तापलट हो सकता है, लेकिन सांस्कृतिक परिवर्तन क्रमश: और धीरे-धीरे होता है। हमारे दादाजी-पिताजी धोती पहनते थे। यही रोज की पोशाक थी और यही विशेष अवसरों की भी। लेकिन आज शहर के किसी भी इलाके में घूम आइए, धोती शायद ही कहीं नजर आए। कुरता जरूर बचा हुआ है, लेकिन अपना रूप बदल कर और फैशन की निशानी के स्तर पर। परिधान के इस परिवर्तन की न कभी घोषणा हुई, न इसके लिए संघर्ष करना पड़ा। जो हुआ वह इतना नि:शब्द था कि उसका आभास तक किसी को नहीं हो पाया।मैं जिन तीन क्रांतियों की बात करना चाहता हूं, उनमें पहली है प्रेम विवाहों की बढ़ती हुई संख्या। बीस-पचीस साल पहले प्रेम विवाह इक्का-दुक्का होते थे। इसके लिए प्रेमी युगल को काफी संघर्ष करना पड़ता था। महीनों रोना-धोना चलता था। अक्सर विवाह तो हो जाता था, पर उसे पारिवारिक मान्यता नहीं मिलती थी। शादी के बाद लड़का-लड़की को अलग घर बसाना पड़ता था। कुछ को तो हमेशा के लिए परिवार से निष्कासित कर दिया जाता था, पर बहुतों को वापस स्वीकार लिया जाता था। आखिर, बेटा-बेटी के प्रति मोह भी कोई चीज होती है, बल्कि कहें कि होने वाले पौत्र-पौत्री का मोह ही होता था जो नाराज माता-पिता के गुस्से को काफूर करने का काम करता था। प्रेम विवाह पहले एक असाधारण चीज लगती थी, अब साधारण-सी घटना लगती है। लेकिन है यह एक क्रांतिकारी घटना। अक्सर ऐसे विवाह अंतरजातीय और अंतरधार्मिक होते हैं। हिंदुस्तान में जाति प्रथा जितनी मजबूत है, उसे देखते हुए इन विवाहों की सहज स्वीकृति एक अनोखी बात लगती है। ऐसे भी कहा जा कता है कि प्रेम विवाह नहीं, प्रेम एक क्रांतिकारी चीज है। यह अपने साथ जाति, धर्म, वर्ग सभी को बहा ले जाता है।यह सच है कि प्रेम विवाहों की जैसी स्वीकृति महानगरों और नगरों में दिखाई पड़ती है, वैसी कस्बाई या ग्रामीण अंचल में नहीं। वहां अक्सर लड़का-लड़की को भाग कर शादी करनी पड़ती है। इसके बाद भी परिवार उनका पीछा नहीं छोड़ता। बहुत-से प्रेमी जोड़ों की या कुछ मामलों में लड़की या लड़के की हत्या कर दी जाती है। बहुतों को पंचायत द्वारा दंडित किया जाता है। और यह दंड बहुत क्रूर ढंग का होता है। गड़ासे से सिर को धड़ से अलग कर देना, पेड़ से लटका कर फांसी देना या जिंदा जला देना पंचों के लिए मामूली बात हो गई है। उत्तर भारत के कई राज्यों में खाप पंचायतें ऐसी हरकतों के लिए खासी बदनाम भी हुई हैं। इस सिलसिले में क्रांतिकारी बात यह है कि इन भयानक नतीजों के बावजूद ऐसे प्रेम विवाह रु क नहीं रहे हैं। नौजवान जान की बाजी लगा कर प्रेम कर रहे हैं, और भाग कर अपना घोंसला बसा रहे हैं। इसका मतलब यही है कि कोई भी सजा इन अंतरजातीय संबंधों को रोक नहीं पा रही है। यह एक शुभ संकेत है। इससे उम्मीद होती है कि शहरों की तरह गांवों और कस्बों में आधुनिकता की लहर आएगी और जाति, धर्म, वर्ग आदि की भावनाओं को समय के साथ समझौता करने के लिए बाध्य कर देगी।दूसरी मौन क्रांति भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। पहले लड़के भी शिक्षा पाने या नौकरी करने बाहर कम जाते थे, आज लाखों लड़कियां अपना घर-परिवार छोड़ कर सुदूर शहरों में अकेली रह रही हैं। बेशक, यह ज्यादातर महानगरों में घटित हो रहा है, जहां अकेली लड़कियों को हॉस्टल भी हैं, जो हर दृष्टि से सुविधाजनक और सुरक्षित माने जाते हैं। लेकिन किसी भी महानगर में ऐसे हॉस्टलों की संख्या तीन-चार से ज्यादा नहीं है। इसलिए लड़कियां किराए पर फ्लैट या कोई कमरा ले कर रहने लगती हैं। इनकी जिजीविषा और आत्मविास की तारीफ कौन नहीं करेगा? वे जानती हैं कि पराए शहर में ही नहीं, अपने शहर में भी लड़की होना कितना असुरक्षित है, फिर भी वे तमाम तरह के जोखिम लेकर घर से निकलती हैं, और जहां उन्हें नौकरी या

कॅरियर की आशा हो, वहां जाती हैं और अकेली रहती हैं। कई बार उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। तब वे एक-दूसरे के लिए छोटा-मोटा एटीएम बन जाती हैं। इन एकाकी युवतियों की दूसरी विशेषता यह है कि ये आम तौर पर यौन शोषण को बरदाश्त नहीं करतीं। ये गर्वीली और स्वाभिमानी युवतियां हैं, इन्हें आसानी से डिगाया नहीं जा सकता। ये आधुनिक हैं, चपल हैं, पुरु षों की संगत में इनकी नानी नहीं मर जाती, ये खुल कर और हर विषय पर बात कर सकती हैं, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये सुलभ भी हैं। जो ऐसा समझ लेता है, वह मार खाता है। टीवी मीडिया में तो कइयों की नौकरी इसलिए चली गई क्योंकि उन्होंने अनुचित प्रयास किए थे। मैनेजमेंट भी अब इन बातों को हलके से नहीं ले सकता। वह बाकायदा जांच करवाता है और शिकायत सही पाने पर बरखास्त कर देता है। इन लड़कियों को मित्र और गर्ल फ्रेंड तो बनाया जा सकता है, पर रखैल नहीं, जैसा पहले होता था।तीसरी क्रांति का समुदाय दलित समुदाय से है। वह अब पूर्णत: मुखर है, और दबने को तैयार नहीं है। रोहित वेमुला की आत्महत्या ने देश भर में अनुगूंज पैदा की और जगह-जगह जुलूस निकाले गए। पोस्टरों की भरमार हो गई। सोशल मीडिया पर भर्त्सना के शब्दों का जैसे कोई अंत ही नहीं था। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि दलित अब अपने साथ अन्याय बरदाश्त नहीं करेंगे। गुजरात में एक दलित को यंतणा देने के बाद दलित जितनी बड़ी संख्या में सड़क पर आ गए, वह कई दृष्टियों से ऐतिहासिक था। ऐसी ही घटना बसपा नेता मायावती के लिए अपशब्द का प्रयोग होने पर उत्तर प्रदेश के कई शहरों और खासकर लखनऊ में हुई। दलित नेता के लिए अपमानजनक टिप्पणी का विरोध करने वाले सिर्फ उनकी पार्टी के कार्यकर्ता नहीं थे, सामान्य दलित भी थी, जिन्हें यह बहुत बुरा लगा। क्या हम इसे दलित विद्रोह की भूमिका कह सकते हैं?

**राजकिशोर**

---

THE HINDU

**Date: 30-09-16**

# Saving the public university

## *Recent policy prescriptions threaten to push liberal arts education in public universities into oblivion while carving out space for the entry of foreign universities.*

The Central government recently announced the setting up of the Higher Education Financing Agency (HEFA), conceived as a special purpose vehicle to accrue and disburse funds to certain institutions of higher education in the country. This development is an upshot of the Tenth Ministerial Conference of the World Trade Organisation (WTO) in Nairobi in December 2015 where decisions on "international trade in educational services" were made. In the interim period, some Indian public universities had to endure attacks on their institutional autonomy and research culture.

All these changes leave us, as liberal arts researchers, with little option but to address the elephant in the room — the pushing of an already marginalised liberal arts education in Indian public universities into oblivion. The fact that we as student researchers have not been made part of larger decision-making for education that have an immediate impact on our academic trajectories is a huge cause for concern. It fails to recognise our position

as active stakeholders of policy advances that seek to alter the texture of the higher education space as we know it.

## Researching for the public

Public universities have long held the unique mandate of being imagined as egalitarian spaces tailored for democratic engagement with the enterprise of education, in the Deweyian sense. For us student researchers in the liberal arts, they open up a world of interactions that take us beyond narrow societal preferences for a very instrumental, technical education. Liberal arts education, encompassing the broad areas of humanities, social, natural and pure sciences, equips individuals with skills to understand and engage with issues of the world beyond mere black-and-white dichotomies.

For instance, our research on issues such as everyday experiences of corruption, child soldiers in conflict areas, media freedoms in times of impunity, ideas around human sciences, clearly traverse beyond university confines and assume significance for the larger public. This is in contrast to a technocratic approach that perceives education as a "trade commodity" or "service deliverable". It is in disagreement with this approach that some of the best of us pursue public-oriented liberal arts research, even when the private sector provides unmatched opportunities for those with technical literacy. By caricaturing the liberal arts as untenable, society at large is stymied from constructively engaging with our theoretical and empirical research work. Researching for the public, then, is incumbent on societal recognition of the larger public interest mandate our work entails.

The 2014 elections and the preceding anti-corruption movement were pitched around a burgeoning youth demography. The rhetoric was hinged on a futuristic imagination of an India that would have a place for our aspirations. Strategies like extensive deployment of social media, setting up of start-up incubators, and expansion of certain kinds of technology imperatives are indicative of this trend. However, these efforts have focussed rather wantonly on a particular imagination of our ambitions, without considering any other inclinations and talents we may possess and aspire to pursue. We seek to make inroads into this conflated imagination of the youth with certain aspirations for the entire country that the strategists seem to repose their efforts in. In actively hedging for their own interests, they have negated all attempts made thus far in nurturing other divergent proficiencies.

Public universities are spaces that serve a larger mandate of inclusiveness and social justice. They often are the only option available to those who have to travel a significant distance, literally and otherwise, in reaching the higher echelons of education. Liberal arts research in public universities allows us to engage with the sheer diversity of these experiences, that then allows us to bring deeper understanding, sensitivity and rigour to our own research.Developments at the WTO-General Agreement on Trade in Services (GATS) conference last year, the New Education Policy and the recent mooting of the HEFA indicate a preference for privatising the public university — through corporate social responsibility interventions, long-term loans and structural adjustments in areas of technical education and certain kinds of scientific research, lack of quality indicators for foreign universities that can enter the Indian education "market", and no pronouncement on the social justice mandate of public universities. The already marginalised liberal arts face a double whammy in the form of the recent approval of the third phase of the Technical Education Quality Improvement Programme, by the Cabinet Committee on Economic Affairs.

Public universities do not operate in a time warp — they are hierarchy-laden and bureaucratic. Older issues and their newer articulations call for introspection every so often. Accessing high-quality journals is a very expensive affair, financial support to attend international conferences is haltingly limited, and digital and remote library facilities are still a mirage, especially in times when we look towards Digital India.

Moreover, the market-oriented shifts fail to capture larger and more pragmatic questions of pedagogy. Universities like Jawaharlal Nehru University, University of Hyderabad and Tezpur University occupy the top spots in the first-ever government ranking. Over years, these universities have adopted and practised certain pedagogic approaches to public education, accentuating their relevance in recent times. How, then, do we as

student researchers respond to such changes? We approach the public university as a shared space for cooperative learning and dialogic peer-group pedagogy, through collaboration and co-learning. Public universities, then, have the larger responsibility of guarding and nurturing such spaces. This would mean transcending disciplinary boundaries and traditional conceptions of teacher-taught relationships. It would call for working with technology innovators, and humanising their spaces towards further collaboration. It also demands that the larger society, including those holding public office across semi-/institutional setups, take cognisance of our research.

## Sharing the global spotlight

The inherent understanding that bringing in foreign universities in itself would drastically alter and improve standards of education in India is misplaced. It does not take into account the quality research that is already underway in many of our public universities. It only feeds in to the preference for foreign degrees, to the disadvantage of those who have expressed enough commitment to and trust in the Indian public education system.

We would do well to draw lessons from current articulations and cynicism amongst the youth on costs of higher education and student debt in the U.S. In a similar vein, other European experiences with public education offer interesting ideas that we could examine, even as we appreciate our own systemic challenges and achievements. Building larger Global South solidarities and advancing them at multilateral fora are ways to engage with education reform. A better approach to sharing the global spotlight, then, is to pay heed to the urgent need to showcase research from Indian public universities on a global level — especially from the liberal arts — instead of shying away from it. These efforts alone would leave us with a sustainable higher education system.

***Aparna Vincent and Preeti Raghunath are doctoral students at the University of Hyderabad.***